शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

ज्येष्ठ : २४८० वर्ष दसवाँ अंक दूसरा

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

अज्ञानी जीव क्या करता है ?

अज्ञानी जीव पर का भला-बुरा कर देने में मानता है, परन्तु अपने अज्ञानभाव और राग-द्वेष के अतिरिक्त पर में तो वह कभी कुछ कर ही नहीं सकता। प्रत्येक पदार्थ में अपनी-अपनी अनंती शक्ति होने पर भी पर का कुछ करने की शक्ति तो किसी द्रव्य में किंचित् भी नहीं है। तीनकाल-तीनलोक में एक तिनके को तोड़ने का भी सामर्थ्य किसी आत्मा में नहीं है; जड़ परमाणु की अवस्था में चैतन्य का अधिकार नहीं है। [— प्रवचन से]

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

[११०]

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ सौराष्ट्र

—दया—

लोग कहते हैं कि दया पालो! किन्तु भाई! आत्मा के भान बिना तेरा आत्मा इस भवभ्रमण में भावमरण से मर रहा है और अनंत दु:ख भोग रहा है, उसकी दया तो पाल! अरे रे! अब मेरा आत्मा इस अवसर से कैसे छूटे?—इस भयंकर भावमरण के त्रास से कैसे छूटे? इसका अंतर में विचार तो कर। पाप के फल में दु:खी होते हुए पशु आदि को देखकर तो जगत के अनेक जीवों को दया आती है; परन्तु ज्ञानी को तो पुण्य का फल भोगनेवाले देवों पर भी दया आती है; क्योंकि आत्मा के भान बिना देव भी दु:खी हैं। इसलिये हे भाई! अब अगर इस भवभ्रमण से थक गया हो और अपने आत्मा की दया आती हो तो अंतर में विचार कर कि मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है? इस देह से भिन्न मेरा आत्मा क्या वस्तु है?—ऐसा विचार करके सत्समागम से उसकी पहिचान करना सो भवभ्रमण से छूटने का उपाय है।

—विश्रामस्थल—

जिसे इस चौरासी के अवतार का भय लगा हो—ऐसा भयभीत जीव अंतर में आत्मा की शरण ढूँढ़ता है। वह विचार करता है कि अरे रे! क्या यह भव करने का ही मेरा स्वभाव होगा, या भवरहित शांति भी कहीं होगी!! इस भवभ्रमण की थकावट दूर करने का विश्राम स्थल कहाँ होगा?—इसप्रकार जिसे अंतर में भव की थकान लगी हो, वह विश्राम-स्थल की खोज करता है।

[—प्रवचन से]

आत्मधर्म

ज्येष्ठ : २४८० वर्ष दसवाँ अंक दूसरा

शांतिनाथ भगवान का वैराग्य

चारित्रदशा का स्वरूप और मुनिपद की महिमा

अशरीरी चैतन्य की भावना भाने से भव का अभाव हो जाता है। पर की भावना भाने में तो हे भाई! तेरा अनंतकाल व्यतीत हो गया... अब ऐसे चैतन्य की महिमा जानकर उसकी भावना कर! उसकी भावना से तेरे भव का अंत आयेगा। अहो! ऐसी आत्मभावना करके संत निज स्वरूप में स्थिर हों, वहाँ जगत का देखने के लिये कहाँ रुकेंगे? संतों को तो आत्मा की ही धुन लगी है, आत्मा के आनंद की ही लगन लगी है।

[दीक्षावन में पूज्य स्वामीजी का प्रवचन : अंक १०८ से आगे]

यह शांतिनाथ भगवान के दीक्षा प्रसंग का प्रवचन चल रहा है। शांतिनाथ भगवान को आत्मस्वभाव का ज्ञान तो था ही; और वैराग्य होने पर अंतर में से चारित्रदशा प्रगट करके मुनि हुए; यह बात अंक १०८ में आ गई है। अब उस चारित्रदशा का वर्णन तथा मुनिपद की महिमा कही जाती है।

यहाँ श्री शांतिनाथ भगवान की दीक्षा का प्रसंग है और इस समय प्रवचन में प्रवचनसार की १९५ वीं गाथा पढ़ी जा रही है; उसमें भी "श्रामण्य में परिणमित होने की" ही बात आई है; बराबर चारित्र के प्रसंग पर चारित्र की ही गाथा आई है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्र में जाकर श्री सीमन्धरनाथ परमात्मा के पास

से जो ज्ञानभण्डार लाये थे, उसे अपने आत्मा में संग्रहित करके रखा और जगत के महाभाग्य से उनके द्वारा इन परमागमों की रचना हो गई। उनमें मुनिदशा के चारित्र का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि:—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१९५॥

देखो, यह चारित्र के परिणमन की दशा! चारित्ररूप से परिणमित मुनियों की दशा ऐसी ही होती है। यहाँ शांतिनाथ भगवान की चारित्रदशा का प्रसंग है, और यहाँ चारित्र वह शांति का कारण है—ऐसा वर्णन है... तीर्थंकरों के क्षपकश्रेणी ही होती है, उपशमश्रेणी नहीं होती; और इस गाथा में भी आचार्यदेव ने रागादि के क्षय की बात करके क्षायिकभाव ही लिया है।

मैं ज्ञानानन्दस्वभाव हूँ—ऐसे आत्मभानसहित तो भगवान अवतरित हुए थे, और अब वैसे स्वभाव में लीन होकर रागादि का क्षय करते हैं। भगवान को जैसा आत्मभान था, वैसे आत्मभानपूर्वक ही चारित्रदशा होती है; इसके अतिरिक्त चरित्रदशा या मुनि-पद नहीं होता। मुनि तो उन्हें कहा जाता है जिनके चरणों में गणधर का भी नमस्कार पहुँचे। अहो! गणधर से वंदनीय वह पद कैसा होगा? गणधर का नमस्कार झेलने की शक्ति जिसके प्रगट हुई है, उस मुनिदशा की क्या बात कही जाये!! सन्तों के नेता गणधर जब नमस्कार मन्त्र बोलते हैं, तब कहते हैं कि:—

णमो लोए सव्व अरिहंताणं।
णमो लोए सव्व सिद्धाणं।
णमो लोए सव्व आइरियाणं।
णमो लोए सव्व उव्वज्झायाणं।
णमो लोए सव्व साहूणं।

[अन्तिम पद में जो ''लोए सव्व'' शब्द है, वह पाँचों पदों में लागू होता है।]

आत्मस्वरूप की साधना करनेवाले हे संतो! आपके चरणों में नमस्कार हो—इसप्रकार गणधरदेव भी विकल्प उठने पर जिस साधुपद को नमस्कार करते हैं, उस साधुपद की महिमा कितनी होगी? भगवान ने आज अपने आत्मा में ऐसा साधुपद प्रगट किया। ज्ञानस्वभाव का भान तो पहले था ही, और अब ज्ञानस्वभाव में एकाग्रता करके आत्मध्यान में लीन हुए और तुरन्त ही मन:पर्ययज्ञान प्रगट हुआ; अभी उनके केवलज्ञान नहीं हुआ था, तब भी उन्हें महाविदेह आदि क्षेत्र

के गणधरों का नमस्कार ''णमो लोए सव्व साहूणं''—ऐसे पद द्वारा पहुँच जाता था। भगवान की मुनिदशा कैसी थी और उन्होंने कैसे चारित्र का पालन किया था, उसका भी अनेक जीवों को भान नहीं है और अपनी अपनी कल्पना से मुनिदशा मान बैठे हैं। भगवान की चारित्रदशा तो अंतर में आत्मा के आश्रित थी; उस चारित्रदशा में दु:ख का वेदन नहीं था परन्तु आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद का अनुभव था।

चैतन्यस्वरूप में लीनता द्वारा वीतरागता होने पर, जिसप्रकार सर्प केंचुली उतारकर चला जाता है उसीप्रकार, भगवान ने ९६००० रानियों को और छह खण्ड के राज्य वैभव को छोड़ दिया। जिसप्रकार विष्टा का त्याग करने के पश्चात् कोई उसकी ओर देखता भी नहीं, उसीप्रकार भगवान ने राज्य और रानियों का राग छोड़ दिया, फिर उसके सामने भी नहीं देखा। हजारों रानियाँ रोती-बिलखती और हाहाकार करती रह गईं कि—अरे रे! हमें भोगों में साथ देनेवाला आज अकेला वन में जा रहा है... उस समय इन्द्राणी उन्हें सान्त्वना देती हैं और कहती हैं कि अरे रानियों! शांत हो... शांत हो... उन्होंने तो राग की वृत्तियों को तोड़ दिया है, अब उन्हें तुम्हारे प्रति राग की वृत्ति नहीं है; वे तो ''सम सुख-दु:ख'' हुए हैं, उन्हें किसी के प्रति राग नहीं है और न किसी के प्रति द्वेष... उनका अवतार भोगों के हेतु नहीं हैं, वे तो तीर्थंकर होने को अवतरित हुए हैं। भगवान मिथ्यात्व का तो नाश करके ही अवतरित हुए थे और अब स्वभाव के आश्रय से राग-द्वेष का क्षय करके वे श्रामण्य में परिणमित होते हैं... ऐसे वीतरागी श्रामण्य द्वारा अब भगवान केवलज्ञान प्रगट करके अक्षय सुख को प्राप्त करेंगे।

देखो, यह चारित्रदशा की महिमा! इसका नाम मुनिदशा है। कोई निन्दा करे या स्तुति करे, कोई घोर उपसर्ग करे या इन्द्र आकर वंदना करें, तथापि अपने वीतरागभाव से च्युत होकर उसमें राग-द्वेष की वृत्ति ही न उठे—ऐसी वीतरागी मुनियों की दशा होती है।

मेरे आत्मा की निन्दा या प्रशंसा करनेवाला कोई नहीं है; सामनेवाला जीव मात्र अपने भाव ही करता है;—ऐसी वीतरागी समझ के उपरांत, अब तो आत्मा के आनंद के अनुभव में लीनता से भगवान की ऐसी दशा हो गई है कि—

शत्रु-मित्र प्रत्ये वर्ते समदर्शिता...
मान-अमाने वर्ते ते ज स्वभाव जो...
जीवित के मरणे नहि न्यूनाधिकता....
भव-मोक्षे पण शुद्ध वर्ते समभाव जो...

यह मेरा शत्रु और यह मेरा मित्र—ऐसी वृत्ति ही जहाँ नहीं है, वहाँ द्वेष या राग कहाँ से होंगे ? दर्शनमोह का तो नाश हो गया है और चारित्रमोह भी मुर्दे के समान हो गया है; ऐसी दशा में भगवान को मित्र या शत्रु, निन्दा या प्रशंसा, जीवन या मरण—इन दोनों दशाओं के प्रति वीतरागी समभाव है; यह अच्छा और यह बुरा, ऐसा विषमभाव भगवान के नहीं है। स्वयं को तो किसी के प्रति, यह मित्र और वह शत्रु—ऐसी वृत्ति ही नहीं है, परन्तु सामनेवाले जीव कोई भक्ति करें अथवा कोई निन्दा करें—तो उन दोनों के प्रति समभाव है, अर्थात् वास्तव में बाह्य में लक्ष ही नहीं है। अहा! आयु हो या न हो, देह लाखों वर्ष तक बनी रहे या आज ही वियोग हो जाये—इसका उन वीतरागी संतों को हर्ष या शोक नहीं है। अरे, अप्रमत्त योगियों को भव और मोक्ष के प्रति भी समभाव है, अर्थात् ''भव का नाश करूँ और मोक्ष प्राप्त करूँ''—ऐसा राग-द्वेष का विकल्प भी नहीं है; वे तो स्वभाव के अनुभव में ही मग्न हैं। स्वभाव के अनुभव की लीनता से बाहर निकलकर मोक्ष की वृत्ति भी नहीं होती... स्वभाव के आनंद की लीनता में इतना स्वभाव प्रगट हो गया है कि ''भव का नाश कब हो''—ऐसा विकल्प नहीं उठता और ''अल्पकाल में ही मोक्ष होगा''—ऐसा भी विकल्प नहीं उठता। इन्द्रादि भक्त आकर पूजा करें तो उस ओर राग की वृत्ति नहीं है और कोई उपसर्ग करे तो वहाँ द्वेष नहीं है। संसार में हमारे कोई स्वजन या शत्रु नहीं हैं; हम तो अपने चिदानंद आत्मा में लीन होकर झूम रहे हैं; चैतन्य के आनंदसागर में झूलते हैं, हमारा लक्ष कहीं बाह्य में नहीं जाता।—ऐसी मुनिवरों की अनुभवदशा होती है। उन्होंने अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़कर जगत के साथ का सम्बन्ध तोड़ दिया है।

अहो जीवों! शांत हो... शांत हो... समभाव करो!—कैसा समभाव ?—चैतन्य के अनुभव में एकाग्र होने से राग-द्वेष की वृत्ति ही उत्पन्न न हो—ऐसा वीतरागी समभाव। ऐसा वीतरागी समभाव मुनिदशा में सहज होता है। ऐसी वीतरागी मुनिदशा प्रगट होने से पूर्व चैतन्य ज्ञायकतत्त्व की अंतर्दृष्टि पूर्वक ''कोई पर मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं''—ऐसी बुद्धि से धर्मी जीवों को सम्यक्श्रद्धा का वीतरागी समभाव होता है। ''कोई पर मेरे मित्र या शत्रु''—ऐसी मिथ्याबुद्धि से होनेवाले राग-द्वेष उनके दूर हो गये हैं। मेरे आत्मा का हित या अहित करनेवाला इस जगत में कोई नहीं है। जिसे अपने भाव में रुचे, वह प्रशंसा करे और जिसे अरुचि हो, वह द्वेष करे लेकिन सब स्वयं अपने में ही वैसे भाव करते हैं; मैंने तो अपने आत्मा को समभाव में परिणमित किया है—इसप्रकार श्रामण्य में परिणमित हुए मुनियों के हृदय में अखंड शांति है... अहो! उन मुनियों

की शांति! उन संतों को आत्मा की ही लगन लगी है; आत्मा की रमणता की धुन में सिद्ध भगवान जैसे अतीन्द्रिय आनंद का उपभोग कर रहे हैं....

आत्मा के भानपूर्वक ज्ञानी ऐसे मुनिपद की भावना भाते हैं कि:—

''एकाकी विचरतो वली स्मशानमां...
वली पर्वतमां वाघ सिंह संयोग जो...
अडोल आसन ने मनसां नहि क्षोभता...
परम मित्रनो पाम्या जाणे योग जो...
—अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?''

अहो! ऐसा धन्य अवसर कब आयेग कि मैं स्मशान में अकेला जाकर चैतन्य के ध्यान में लीन होऊँगा! जगत में मुर्दे को तो लोग 'ओ... ओ...' करके रोते हुए स्मशान में ले जाते हैं और वहाँ जला देते हैं;—परन्तु मैं तो अकेला अपनेआप नित्यानंदस्वरूप में मस्त बनकर चैतन्य की लगन से 'ॐ..ॐ' रटता हुआ स्मशान में जाकर देह से भिन्न आत्मा का ध्यान करूँ... ॐ के वाच्यभूत ज्ञानानंद परमब्रह्म ऐसे भगवान शुद्ध आत्मा को ध्यान में लेकर ऐसे निज चैतन्यस्वरूप को जागृत करता हुआ, स्मशान में मोह को मुर्दे की भाँति भस्म कर दूँ!—ऐसी दशा आने से पूर्व इस बात को समझकर उसकी भावना करने में भी अलौकिक आनंद और निर्जरा होती है। इस भावना में एक की एक बात पुनः पुनः आये, तथापि पुनुरक्ति दोष नहीं लगता। जिसे जिसकी लगन लगी हो, वह उसकी भावना बारम्बार करता रहता है। जगत के अज्ञानी जीव विषय-कषाय की भावना को बारम्बार भाते हैं और यहाँ आत्मा में स्थिर होने की वीतराग भावना बारम्बार भाते हैं।

धर्मी जीव, वीतरागी चारित्र की भावना भाते हैं कि:—अहो! जहाँ सिंह-वाघ चिंघाड़ते हों —ऐसे भयानक वन में—एकाकी आत्मस्वरूप में कब विचरेंगे? निर्भयरूप से अडोल आसन हो... और सिंह-चीते शरीर को खा जायेंगे—ऐसा विकल्प तक मन में न हो... हम तो अंतर की सहजानंदमय चैतन्य-गुफा में रहनेवाले अरूपी आनंदकंद हैं... हमें कौन खा सकता है?—कौन काट सकता है? यह जड़ शरीर हमारी वस्तु नहीं है; देह से भिन्नत्व जानकर उसका महत्व छोड़ दिया है। सिंह आकर शरीर को खा जाये, तो हम जिस शरीर को छोड़ना चाहते हैं (जिसका ममत्व छोड़ दिया है), उसे वह ले जाता है; इसलिये वह हमारा मित्र है। वास्तव में तो मुनियों को चैतन्य की लीनता में ऐसी वीतरागता हो गई है कि देह की ओर का विकल्प भी नहीं उठता।—अहो! ऐसी

आत्मभावना करके संत निज स्वरूप में स्थित हों, वहाँ जगत का देखने को कहाँ से रुकेंगे ?—ऐसी अशरीरी चैतन्यस्वभाव की भावना के बिना धर्म नहीं हो सकता। अशरीरी चैतन्य की भावना भाने से भव का अभाव हो जाता है। पर की भावना करने में तो भाई! तेरा अनंतकाल व्यतीत हो गया... अब, ऐसे निज-चैतन्य की महिमा जानकर उसकी भावना तो कर! उसकी भावना से तेरे भव का अन्त आ जायेगा। श्री शांतिनाथ भगवान ऐसी भावना भाकर मुनि हुए, उसीप्रकार प्रत्येक जीव को स्वयं अपनी शक्ति के अनुसार भावना भाना चाहिए। ऐसी भावना में सबको साथ देने जैसा है—ऐसी भावना का अनुसरण करने जैसा है।

अहो! चैतन्य की भावना भाकर, वन में जाकर उसका ध्यान करें और उसमें ऐसे लीन हो जाएँ कि स्थिर बिम्ब देखकर शरीर के साथ वन के हिरन खाज खुजाने के लिये भ्रम से ठूँठ जानकर अपने शरीर को घिसते हों!—ऐसी स्थिति में कब होंगे? 'हम तो आनंदकंद हैं' ऐसे भानपूर्वक स्वभाव की भावना भाकर, राग को नष्ट करके शांतिनाथ भगवान वीतरागी मुनि हुए; सुख-दुःख में समभावी हुए; सर्व प्रकार के उपसर्गों में समता की भावना भाकर—अर्थात् उपसर्गों की उपेक्षा करके—निज चैतन्य में लीनता से ऐसी मुनिदशा हुई। वन-जंगल में एकाकी विचरण करनेवाले भगवान को बाह्य संयोगों का कोई दुःख नहीं था; वे तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनंद की मौज में लीन थे। मुनिदशा में दुःख नहीं है, मुनिदशा तो पूर्णानन्दस्वरूप सिद्धदशा का साधन है; इसलिये पूर्णानन्द दशा के साधनरूप उस मुनिदशा में भी सिद्ध भगवान जैसे आनंद का अंशतः अनुभव होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मुनिदशा तो स्वयं दुःखों के नाश का कारण है, तब फिर वह स्वयं दुःखरूप कैसे होगी? जो चारित्र को कष्टदायक या दुःखरूप मानते हैं, उन्हें मुनिदशा का भान ही नहीं है—चारित्र का तिरस्कार है। बाह्य संयोगों का दुःख संतों को नहीं है, संतों को तो स्वभाव की अपूर्व शांति का वेदन है।

भगवान को जो चारित्रदशा प्रगट हुई, वह किसी बाह्य क्रियाकाण्ड से प्रगट नहीं हुई है, परन्तु आत्मा में लीनता से ही प्रगटी है। आत्मा का चारित्र बाह्य वेश में या शरीर की दशा में नहीं है; अरे! पंचमहाव्रत के शुभराग में भी वास्तव में आत्मा का चारित्र नहीं है; परन्तु अंतर में त्रिकाली चैतन्यनाथ अनंत आनंद की खान है, वह फटकर उसमें से चारित्रदशा प्रगट होती है। चैतन्य में एकाग्रता से ही चारित्र और केवलज्ञान प्रगट होता है। चारित्रदशा प्राप्त करनेवाले मुनि को प्रथम तो ध्यान में स्थिर होने पर सातवें गुणस्थान की अप्रमत्तदशा प्रगट होती है; उस समय तो 'मैं मुनि हूँ,

अथवा मैं ध्यान करता हूँ'—ऐसी राग की वृत्ति भी नहीं होती। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् छठवें गुणस्थान में पंचमहाव्रतादि की वृत्ति उठती है। मोक्षमार्ग में ऐसी ही स्थिति है कि मुनि को प्रथम अप्रमत्तदशा हो, गुणस्थान श्रेणी में प्रथम सातवाँ गुणस्थान आये और तत्पश्चात् छठवाँ गुणस्थान आता है। मुनियों को प्रमत्तदशा एकसाथ अधिककाल तक नहीं रहती परन्तु अप्रमत्तदशा का निर्विकल्प अनुभव बारम्बार होता ही रहता है।

मुनिदशा में आत्मा स्वयं चारित्र में लीन हो जाता है; आत्मा ही आनन्दमय हो जाता है... आनंदकंद चिदानन्दस्वभाव में लीन होकर आत्मा 'सम सुख-दुःख' हुआ उसके फल में वह अक्षय सुख को प्राप्त करता है। देखो, मोह का नाश करके 'सम सुख-दुःख' अर्थात् वीतरागभाव हुआ, वही मुनि का चारित्र है और अक्षय सुख की प्राप्ति ही उसका फल है; बीच में राग आये, वह चारित्र नहीं है और स्वर्ग की प्राप्ति हो, वह चारित्र का फल नहीं है। स्वर्ग का भव हो, वह तो राग का फल है; राग छेदकर वीतरागी चारित्र के फल में मुक्ति होती है।

जगत के अज्ञानी जीव स्वर्गादि के इन्द्रिय-सुख में सुख की कल्पना करते हैं और उसके कारणरूप शुभराग में धर्म की कल्पना करते हैं—यह दोनों मिथ्या कल्पना हैं। स्वर्ग का माना हुआ सुख, वह सच्चा सुख नहीं है और शुभराग धर्म नहीं है। वास्तव में स्वर्ग में सुख या राग में धर्म भगवान ने कभी कहा ही नहीं है; परन्तु वीतरागभाव से आत्मा में से प्रगट होनेवाला सुख ही सच्चा सुख और धर्म है। बाह्य सामग्री में तो भगवान को पहले चक्रवर्ती का राज्यवैभव था, तथापि उसमें सुख नहीं है—ऐसा भगवान ने जाना था, इसलिये उसे छोड़कर चले गये। यदि उस पुण्य के फल में सुख होता तो भगवान उसे क्यों छोड़ते? भगवान ने तो उसकी ओर का राग छोड़कर आत्मा के अक्षयसुख की साधना की। ऐसा पूर्ण सुख प्राप्त करने के पश्चात् भगवान को अवतार नहीं होता। देखो, यह भगवान का चारित्र! इस चारित्रदशा के पश्चात् भगवान को भव नहीं होता। अहो! भगवान का मार्ग तो देखो... अप्रतिहतरूप से सीधा केवलज्ञान! अंतर के चैतन्यमार्ग पर पहुँचे, वे पीछे नहीं लौटते।

दर्पण में दो प्रतिबिम्ब देखकर श्री शांतिनाथ भगवान को वैराग्य हुआ... और "ॐ नमः सिद्धेभ्यः"—इसप्रकार सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करके स्वयं दीक्षित हुए। पश्चात् आत्मध्यान में लीन होने से सिद्धसमान चैतन्य पिण्ड में से अतीन्द्रिय परमानंद का अनुभव और अप्रमत्तदशा हुई तथा मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुआ मति-श्रुत-अवधि—यह तीन ज्ञान और जातिस्मरणज्ञान तो थे ही;

तदुपरान्त मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुआ। यहाँ तो भगवान के दीक्षा कल्याण का स्थापनानिक्षेप से दृश्य है... किन्तु जब साक्षात् तीर्थंकर भगवान का दीक्षाकल्याणक होता होगा, उस प्रसंग की दशा कैसी होगी ? उस प्रत्यक्ष कल्याणकाल की महिमा मुख से कैसे कही जाय!! अहो!! जो चक्रवर्ती थे, कामदेव थे और तीर्थंकर थे, उन्होंने जब दीक्षा ली होगी, उस समय की वैराग्यदशा की और उस प्रसंग की क्या बात! धन्य वह काल... और धन्य वह भाव... छह खण्ड में सर्वोत्तम जिन का रूप था, उत्तम भोग था, और तीर्थंकर हैं—ऐसे शांतिनाथ भगवान चारित्रदशा धारण करके अप्रमत्तदशा में झूल रहे हैं... क्षण में भेद की या महाव्रत आदि की वृत्ति उठती है और दूसरे ही क्षण उस वृत्ति को तोड़कर पुनः निर्विकल्प आत्मानुभव में ऐसे लीन हो जाते हैं मानों सिद्ध बैठे हों... ऐसी भगवान की दशा है। ऐसी चारित्रदशा इससमय तो प्रसिद्धरूप से महाविदेहक्षेत्र में है... इससमय यहाँ ऐसी दशा के दर्शन के भाग्य कहाँ से हों!—परन्तु वह दशा किये बिना किसी की मुक्ति नहीं होती।

प्रथम तो शुद्ध आत्मा के भान द्वारा मिथ्यात्व का क्षय किया, और पश्चात् राग-द्वेष को नाश करके आत्मा 'सम सुख-दुःख' हुआ; इसलिये किसी अनुकूल या प्रतिकूल संयोग में 'यह ठीक और यह अठीक'—ऐसा विषम भाव नहीं होता; चैतन्य के अनुभव में आनंद की लीनता में कहीं सुख-दुःख की वृत्ति नहीं होती; इसलिये समभाव से (राग-द्वेषरहित वीतरागभाव से) चैतन्य में लीनता द्वारा जीव श्रामण्यभाव में परिणमित होता है; उसका नाम चारित्रदशा और मुनिपद है। ऐसे चारित्रवाला जीव अल्पकाल में मुक्ति का अक्षयसुख प्राप्त करता है।

शांतिनाथ भगवान ने ऐसी चारित्रदशा प्रगट की और केवलज्ञान प्रगट करके अक्षयसुख को प्राप्त किया; केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् दिव्यध्वनि खिरी। शांतिनाथ भगवान को स्वयं को शांति थी, और पर को शांति का उपदेश देते थे। क्या उपदेश देते थे, वह आगे कहा जायेगा।

वढवाणशहर, सुरेन्द्रनगर, राणपुर और बोटाद में

जिनबिम्ब वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव

परम पूज्य सद्गुरुदेव, जिनेन्द्र शासन की महान प्रभावना करते-करते सौराष्ट्र में विचर रहे हैं और ग्राम-ग्राम में जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा करते जा रहे हैं। गुरुदेव के प्रभाव से नित्य-प्रति मंगल-महोत्सव मनाये जा रहे हैं।

वढवाण शहर

वांकानेर से विहार करते-करते वैशाख कृष्णा ४ के दिन पूज्य गुरुदेव वढवाण शहर पधारे; उस समय भक्तजनों ने अत्यन्त उल्लासपूर्वक पूज्य गुरुदेव का स्वागत किया था। तत्पश्चात् वैशाख कृष्ण ६ से ८ तक जिनमन्दिर में सीमंधरादि भगवन्तों की वेदी प्रतिष्ठा का उत्सव मनाया गया था। वढवाण में ऊपर के भाग में जिनमन्दिर है और नीचे के भाग में स्वाध्याय-मन्दिर है। वेदी-प्रतिष्ठा का मण्डप स्वाध्याय-मन्दिर में था। वैशाख कृष्णा ६ के दिन रथयात्रा निकालकर श्री जिनेन्द्र भगवान को वेदी-मण्डप में विराजमान किया था और झण्डारोहण हुआ था; तथा वेदी-प्रतिष्ठा के लिये आचार्यअनुज्ञा विधि हुई, उसमें वढवाण के मुमुक्षु संघ ने वेदी-प्रतिष्ठा उत्सव के लिये पूज्य गुरुदेव की आज्ञा ली थी और गुरुदेव के प्रताप से वढवाण के आँगन में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा का ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ उसके लिये अपना उल्लास और भक्ति-भाव व्यक्त किया था। तथा बीस विहरमान भगवन्तों की पूजा और जिनेन्द्र-अभिषेक हुआ था। इन्द्र-प्रतिष्ठा भी हुई थी। वैशाख कृष्णा ७ के दिन जलयात्रा निकली थी, यागमण्डल विधान हुआ था और जिनमन्दिर, वेदी, कलश तथा ध्वजशुद्धि हुई थी; उसमें मुख्य विधि बहिन श्री बहिन के पवित्र हस्त से हुई थी। वैशाख कृष्णा ८ के दिन सवेरे परम पूज्य गुरुदेव के मंगल कर-कमलों से जिनमन्दिर में जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा हुई। प्रतिष्ठा प्रसंग पर भक्तजनों को बहुत उल्लास था। वढवाण शहर के जिनमन्दिर में मूलनायकरूप से श्री सीमंधर भगवान विराजमान हैं, उनके दोनों ओर महावीर भगवान तथा शांतिनाथ भगवान विराजमान हैं; तदुपरांत पार्श्वनाथ भगवान विराजमान हैं और स्वाध्यायमंदिर में समयसारजी परमागम की प्रतिष्ठा भी परमपूज्य गुरुदेव के मंगल हस्त से हुई है। प्रतिष्ठा-प्रसंग पर वढवाण शहर के भक्तजनों को महान उल्लास था। शांतियज्ञ के पश्चात् शाम को

जिनेन्द्र-भगवान की भव्य रथयात्रा निकली थी; रथयात्रा अनेक प्रकार से सुशोभित थी और पूज्य गुरुदेव भी साथ में पधारे थे।—इसप्रकार अत्यन्त उल्लासपूर्वक भगवान का वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव मनाया गया था। इसके लिये वढवाण शहर का मुमुक्षु संघ धन्यवाद का पात्र है।

वढवाण शहर में पूज्य गुरुदेव सात दिन ठहरे थे। अन्तिम दिनों में भगवान को टाउन हाल में विराजमान करके भक्ति की गई थी; और मानस्तंभ प्रतिष्ठा महोत्सव (सोनगढ़) की फिल्म दिखाई गई थी। पूज्य गुरुदेव के प्रवचनों का लाभ भी लोग बड़ी उमंगपूर्वक लेते थे। वैशाख कृष्णा ११ के दिन वढवाण शहर से विहार करके पूज्य गुरुदेव जोरावरनगर पधारे थे।

सुरेन्द्रनगर

जोरावरनगर से विहार करके वैशाख कृष्णा १२ के दिन पूज्य गुरुदेव सुरेन्द्रनगर पधारे, उस समय भक्तजनों ने बड़े उल्लासपूर्वक उनका भव्य स्वागत किया था। तत्पश्चात् वैशाख कृष्णा ३० से वैशाख शुक्ला ३ तक जिनमन्दिर में शांतिनाथ इत्यादि भगवन्तों की वेदी-प्रतिष्ठा का उत्सव और परम पूज्य गुरुदेव का ६५ वाँ जन्मोत्सव मनाया गया था। सुरेन्द्रनगर का जिनमंदिर सुन्दर शोभायमान है; तदुपरान्त जिनमन्दिर के आँगन में ही स्वाध्याय-मन्दिर है। वेदी-प्रतिष्ठा का मण्डप स्वाध्याय मंदिर में था। वैशाख कृष्णा ३० के दिन रथयात्रा निकालकर श्री जिनेन्द्र भगवान को वेदी-मण्डप में विराजमान किया था और झण्डारोपण हुआ था तथा वेदी-प्रतिष्ठा के लिये आचार्य-अनुज्ञा विधि हुई थी जिसमें सुरेन्द्रनगर के मुमुक्षु संघ ने वेदी-प्रतिष्ठा उत्सव के लिये पूज्य गुरुदेव की आज्ञा ली थी और गुरुदेव के प्रताप से सुरेन्द्रनगर के आँगन में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा का ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ उसके लिये अपना उल्लास और भक्तिभाव व्यक्त किया था; तथा बीस विरहमान भगवन्तों की पूजा और जिनेन्द्र-अभिषेक हुआ था, इन्द्र-प्रतिष्ठा भी हुई थी।

वैशाख शुक्ला १ के दिन जलयात्रा निकली थी और यागमण्डल विधान हुआ था। जिनमन्दिर, वेदी, कलश तथा ध्वज की शुद्धि हुई थी। उसमें मुख्य विधि पूज्य बहिन श्री बहिन के पवित्र हस्त से हुई थी। वैशाख शुक्ला २ के शुभ दिन पूज्य गुरुदेव का ६५ वाँ जन्मोत्सव मनाया गया था। सवेरे पूज्य गुरुदेव के प्रवचन के पश्चात् भाई श्री जेठालाल हिंमतलाल शाह ने संक्षिप्त व्याख्यान द्वारा पूज्य गुरुदेव के जीवन के मुख्य प्रसंग दर्शाये थे और सद्गुरु की महिमा बतलाई थी। तत्पश्चात् सुरेन्द्रनगर में पूज्य गुरुदेव का जन्मोत्सव मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उसके लिये

सुरेन्द्रनगर के मुमुक्षु संघ की ओर से शेठ मगनलाल लेराभाई ने उल्लास व्यक्त किया था। ६५ वें जन्मोत्सव के निमित्त से '६५' की रकम का फंड हुआ था। रात्रि के समय बालिकाओं ने जन्मोत्सव की बधाई सम्बन्धी छोटा-सा संवाद किया था और भक्ति हुई थी। वैशाख शुक्ला ३ के दिन सवेरे परमपूज्य गुरुदेव के मंगल करकमलों से जिनमन्दिर में जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा हुई। प्रतिष्ठा-प्रसंग पर सुरेन्द्रनगर के भक्तजनों को महान उल्लास था। सुरेन्द्रनगर के जिन मंदिर में मूल नायक रूप से श्री शांतिनाथ भगवान विराजमान हैं; उनके दोनों ओर सीमंधर भगवान और सुमतिनाथ भगवान विराजमान हैं; और श्री महावीर भगवान भी विराजमान हैं।

जिनमन्दिर में प्रतिष्ठा के पश्चात् स्वाध्यायमनिदर में समयसारजी परमागम की प्रतिष्ठा भी परमपूज्य गुरुदेव के मंगल हस्त से हुई थी। पश्चात् शांतियज्ञ और शाम को जिनेन्द्रदेव की भव्य रथयात्रा निकली थी। हाथी सहित जिनेन्द्रदेव तथा अनेकप्रकार से यह रथयात्रा शोभायमान थी। पूज्य गुरुदेव भी साथ पधारे थे। रात्रि को बालिकाओं ने ''महाराजा श्रेणिक, महारानी चेलना और अभयकुमार'' का सुन्दर संवाद किया था।—इसप्रकार महान उल्लासपूर्वक भगवान का वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव मनाया गया था। इसके लिये सुरेन्द्रनगर का मुमुक्षु संघ धन्यवाद का पात्र है।

सुरेन्द्रनगर में पूज्य गुरुदेव सात दिन रहे थे। अन्तिम दिन पूज्य गुरुदेव ने जिनमन्दिर में भक्ति गवाई थी। एक दिन तीर्थधाम सोनगढ़ की फिल्म भी बतलाई गई थी। पूज्य गुरुदेव के प्रवचन का लाभ भी लोग बड़ी उमंगपूर्वक लेते थे। वैशाख शुक्ला ४ दिन सुरेन्द्रनगर से विहार करके लीमडी और चूड़ा होते हुए पूज्य गुरुदेव राणपुर पधारे थे।

राणपुर

वैशाख शुक्ला १० के दिन पूज्य गुरुदेव राणपुर पधारे, उस समय भक्तजनों ने बड़े उल्लासपूर्वक उनका स्वागत किया था। तत्पश्चात् वैशाख शुक्ला ११ से १३ तक जिनमन्दिर में महावीरादि भगवन्तों की वेदी-प्रतिष्ठा का उत्सव मनाया गया था। यहाँ जिनमंदिर का जो विशाल मकान है उसमें स्वाध्याय-मन्दिर है; वहीं वेदी-प्रतिष्ठा की विधि हुई थी। वैशाख शुक्ला ११ के दिन रथयात्रा निकालकर श्री जिनेन्द्र भगवान को वेदी-मंडप में विराजमान किया था और झण्डारोपण हुआ था। वेदी-प्रतिष्ठा के लिये आचार्य-अनुज्ञाविधि हुई थी; उसमें राणपुर के मुमुक्षु संघ ने वेदी-प्रतिष्ठा के लिये पूज्य गुरुदेव की आज्ञा ली थी और गुरुदेव के प्रताप से राणपुर के

आँगन में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा का ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ उसके लिये अपना उल्लास और भक्तिभाव व्यक्त किया था। बीस विरहमान भगवन्तों की पूजा और जिनेन्द्र-अभिषेक हुआ था।

वैशाख शुक्ला १२ के दिन इन्द्र प्रतिष्ठा हुई थी, जलयात्रा निकली थी और यागमण्डल विधान हुआ था। जिनमन्दिर, वेदी, कलश तथा ध्वज की शुद्धि हुई थी, उसमें मुख्य विधि पूज्य बहिन श्री बहिन के पवित्र हस्त से हुई थी। वैशाख शुक्ला १३ के दिन सवेरे परम पूज्य गुरुदेव के मंगल कर-कमलों से जिनमंदिर में जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा हुई थी। प्रतिष्ठा-प्रसंग पर राणपुर के भक्तजनों को महान उल्लास था। राणपुर के जिनमन्दिर में मूल नायकरूप से महावीर भगवान विराजमान हैं; उनके आसपास सीमंधर भगवान और आदिनाथ भगवान विराजमान हैं, तथा श्री पार्श्वनाथ भगवान विराजमान हैं। तदुपरान्त मंदिरजी में समयसारजी परमागम की प्रतिष्ठा भी परमपूज्य गुरुदेव के मंगल हस्त से हुई थी। तत्पश्चात् शांतियज्ञ और शाम को भक्ति के बाद जिनेन्द्रदेव की भव्य रथयात्रा निकली थी। हाथी सहित जिनेन्द्रदेवादि अनेकप्रकार से वह रथयात्रा सुशोभित थी। पूज्य गुरुदेव भी साथ पधारे थे।—इस प्रकार भगवान का वेदी-प्रतिष्ठा महोत्सव बड़े उल्लासपूर्वक मनाया गया था। इसके लिये राणपुर का मुमुक्षु संघ धन्यवाद का पात्र है।

राणपुर में पूज्य गुरुदेव सात दिन ठहरे थे। अन्तिम दिन पूज्य गुरुदेव ने जिनमन्दिर में भक्ति गवाई थी। पूज्य गुरुदेव के प्रवचन का लाभ भी लोग बड़ी उमंगपूर्वक लेते थे। ज्येष्ठ कृष्णा २ के दिन पूज्य गुरुदेव ने राणपुर से बोटाद की ओर विहार किया था।

बोटाद

ज्येष्ठ कृष्णा ३ के दिन पूज्य गुरुदेव बोटाद पधारे, तब भक्तजनों ने बहुत उल्लासपूर्वक पूज्य गुरुदेव का स्वागत किया था, और ज्येष्ठ कृष्णा ५-६-७ तीन दिन तक जिनमन्दिर में श्रेयांसनाथ इत्यादि भगवन्तों की वेदी-प्रतिष्ठा की विधि जिनमन्दिर में ही हुई थी। ज्येष्ठ कृष्णा ५ के दिन रथयात्रा निकालकर श्री जिनेन्द्र भगवान को वेदी-मण्डप में विराजमान किया था और झंडारोपण हुआ था। तथा वेदी-प्रतिष्ठा के लिये आचार्य अनुज्ञा विधि हुई; उस में बोटाद के मुमुक्षु संघ ने वेदी-प्रतिष्ठा उत्सव के लिये पूज्य गुरुदेव की आज्ञा ली थी। गुरुदेव के प्रताप से बोटाद के आँगन में जिनेन्द्र भगवान की प्रतिष्ठा का ऐसा सुअवसर प्राप्त हुआ उसके लिये अपना उल्लास व्यक्त किया था और बीस विरहरमान भगवन्तों की पूजा तथा जिनेन्द्र-अभिषेक हुआ था। ज्येष्ठ

कृष्णा ६ के दिन इन्द्र-प्रतिष्ठा के पश्चात् जलयात्रा निकली थी और यागमण्डल विधान हुआ था। शाम को जिनमन्दिर-वेदी-कलश और ध्वजशुद्धि हुई थी। ज्येष्ठ कृष्णा ७ के दिन प्रातःकाल परम पूज्य गुरुदेव के मंगल करकमलों से जिनमंदिर में जिनेन्द्र भगवन्तों की प्रतिष्ठा हुई; प्रतिष्ठा-प्रसंग पर बोटाद के भक्तजनों को बहुत उल्लास था। बोटाद के जिनमन्दिर में मूलनायक रूप से श्री श्रेयांसनाथ भगवान विराजमान हैं; उनके दोनों ओर शीतलनाथ भगवान और सीमंधर भगवान विराजमान हैं, तथा श्री शांतिनाथ और पार्श्वनाथ भगवान विराजमान हैं। तदुपरान्त जिनमन्दिर में समयसारजी परमागम की प्रतिष्ठा भी परम पूज्य गुरुदेव के मंगल हस्त से हुई थी। शांतियज्ञ के बाद शाम को भक्ति के पश्चात् जिनेन्द्रदेव की भव्य रथयात्रा निकली थी। हाथी सहित जिनेन्द्रदेवादि अनेक प्रकार से यह रथयात्रा शोभायमान थी और पूज्य गुरुदेव भी साथ पधारे थे। रात्रि को बालिकाओं ने ''महारानी चेलना'' का संवाद किया था।—इसप्रकार भगवान का वेदी-प्रतिष्ठा-महोत्सव अत्यन्त उल्लासपूर्वक मनाया गया था। इसके लिये बोटाद का मुमुक्षु संघ धन्यवाद का पात्र है।

बोटाद में पूज्य गुरुदेव ६ दिन ठहरे थे। ज्येष्ठ कृष्णा ८ के दिन सोनगढ़ में समयसारजी परमागम की पवित्र प्रतिष्ठा का वार्षिकोत्सव था, इसलिये श्री समयसारजी की पूजा हुई थी और पूज्य गुरुदेव ने भक्ति गवाई थी। पूज्य गुरुदेव के प्रवचन का लाभ भी लोग बड़ी उमंग से लेते थे। ज्येष्ठ कृष्णा ९ के दिन पूज्य गुरुदेव ने वींछिया की ओर विहार किया है।

उमराला

चार दिन बींछिया ठहरकर पूज्य गुरुदेव ज्येष्ठ शुक्ला २ के दिन उमराला नगरी पधारेंगे और वहाँ दोज-तीज-चौथ के दिन ''कहानगुरु जन्मधाम'' के ऊपर बने हुए जिनमन्दिर में वेदी-प्रतिष्ठा का उत्सव मनाया जायेगा। तत्पश्चात् ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी (श्रुतपंचमी) का उत्सव भी वहीं होगा। ज्येष्ठ शुक्ला ६ रविवार ता ६-६-५४ के दिन तीर्थधाम सोनगढ़ पधारेंगे।

लगभग ४॥ महीने के विहार में परम प्रभावक कहान गुरुदेव की मंगलकारी छाया में अनेक मंगलकार्य हुए हैं और जगह-जगह जैनशासन की महान प्रभावना हुई है। सर्व प्रथम उमराला में ''उजमबा स्वाध्यायगृह'' का और जन्मस्थान का उद्घाटन, वडिया में जिनमन्दिर का उद्घाटन, तत्पश्चात् तीर्थधाम गिरनारजी की संघ सहित यात्रा, फिर पोरबन्दर, मोरबी, वांकानेर

तीन शहरों में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, सुरेन्द्रनगर में ६५ वाँ जन्मोत्सव और वढ़वाण, सुरेन्द्रनगर, राणपुर, बोटाद तथा उमराला में वेदी-प्रतिष्ठा और दूसरे कई ग्रामों में नूतन जिनमन्दिरों की घोषणा—ऐसे अनेक मंगलकारी प्रसंगों द्वारा जिनेन्द्र शासन की अद्भुत प्रभावना करके (ज्येष्ठ शुक्ला ६ के दिन) पूज्य गुरुदेव सोनगढ़ पधार रहे हैं इसलिये वहाँ विशिष्ट भक्तिभाव से उनका भव्य स्वागत करने की भक्तजनों की भावना है। अहो! परम पूज्य गुरुदेव की परमपावन मंगलछाया इस कलियुग में कल्पवृक्ष के समान शांतिदायक है और उनका पवित्र धर्मप्रीाव अनेक सुपात्र जीवों का कल्याण कर रहा है। दिन दिन वृद्धिंगत होता हुआ पूज्य गुरुदेव का परम प्रभाव भव्य जीवों का कल्याण करे!!

जागकर देखे इतनी देर.....

अहो! जब देखो तब एक समय में परिपूर्ण तत्व अन्दर भरा है; भगवान आत्मा अपने स्वभाव की परिपूर्ण शक्ति संचित करके बैठा है; उसके स्वभावसामर्थ्य का एक अंश भी कम नहीं हुआ है, और तीनकाल में एक समय भी उस स्वभाव का विरह नहीं है; स्वयं जागृत होकर अन्तर में दृष्टि डाले इतनी ही देर है। *[-पूज्य गुरुदेव]*

—सूचना—

परम पूज्य श्री कानजी स्वामी ज्येष्ठ शुक्ला ६ के दिन सोनगढ़ पधार रहे हैं। अब पुस्तक बिक्री विभाग और जैन अतिथि सेवासमिति आदि की व्यवस्था पूर्ववत् होने लगेगी! कृपया सोनगढ़ के ही पते पर पत्र-व्यवहार करें।

सर्वज्ञभगवान की व्यवहारस्तुति भी

किसे होती है ?

समवशरण में विराजमान श्री तीर्थंकर भगवान की स्तुति इसप्रकार की जाती है कि—हे जिनेन्द्र ! आपका शरीर परम सुंदर और अविकार है, आपकी देह दिव्य परम-औदारिक है; जन्म से ही आपको आहार था किन्तु निहार नहीं था, और परमात्मदशा होने के पश्चात् तो आहार भी नहीं रहा; आपका रूप सबको प्रिय लगता है। आप की वाणी भव्य जीवों को अमृत-समान लगती है; आपकी मुद्रा समुद्र की भांति अति गंभीर है, आपके ज्ञान में सब प्रतिभासित होने के कारण मुद्रा पर किंचित् भी विस्मय या कुतूहल नहीं होता; और आपकी मुद्रा चलाचलतारहित है; दुनिया की विविध घटनाएँ ज्ञान में प्रतिभासित होने पर भी आपकी मुद्रा वीतरागता से किंचित्मात्र चलायमान नहीं होती। और हे नाथ ! आपकी धर्मसभा में सिंह और हिरन, बिल्ली और चूहे—इत्यादि जाति-विरोधी प्राणी शांतिपूर्वक निर्भय होकर एकसाथ बैठते हैं, और एक-दूसरे की हिंसा नहीं करते।—ऐसे विविधप्रकार से शरीरादि के वर्णन से भगवान की जो स्तुति की जाती है, वह व्यवहार से ही है; परमार्थतः शरीरादि के स्तवन से आत्मा की स्तुति नहीं होती; क्योंकि शरीर का रूप या दिव्यध्वनि आदि भगवान का सच्चा स्वरूप नहीं है; वह तो पुण्य का फल है; भगवान का आत्मा उससे पृथक् है। यदि उस बाह्य पुण्य के फल के वर्णन को ही भगवान का सच्चा स्वरूप मान ले, और उस पुण्य से भिन्न सर्वज्ञ भगवान के स्वरूप को न जाने—अर्थात् ज्ञानस्वभावी आत्मा को न पहिचाने तो वह जीव अज्ञानी है, वह अधिक से अधिक पुण्यबंध करेगा, परन्तु उसे भगवान की सच्ची स्तुति (निश्चय से या व्यवहार से) नहीं होती। जो भगवान आत्मा के परमार्थ स्वरूप को जानता है, उसी को भगवान की सच्ची स्तुति होती है। जो जीव, भगवान आत्मा का परमार्थ स्वरूप जानता है, वह पुण्य को आत्मा का स्वरूप नहीं मानता, पुण्य से धर्म नहीं मानता, देह की क्रिया मैं कर सकता हूँ,—ऐसा नहीं मानता, देह की क्रिया को आत्मा का कार्य नहीं मानता। कथन में भले ही देह का वर्णन आये, परन्तु उस समय भी "भगवान का आत्मा तो देह से भिन्न ज्ञानस्वरूप है, वीतराग है, और मेरा आत्मा भी वैसा ही ज्ञानस्वरूप वीतराग है"—ऐसा लक्ष यदि अंतर में हो, तभी वहाँ भगवान की व्यवहारस्तुति है। परन्तु यदि वैसा लक्ष न हो तो व्यवहारस्तुति भी सच्ची नहीं है, क्योंकि निश्चय के लक्ष बिना व्यवहार भी नहीं होता। जिसे निश्चयस्वरूप का लक्ष नहीं है, वह जीव वास्तव में भगवान की स्तुति नहीं करता, परन्तु विकार की और जड़ की स्तुति करता है। वह

भगवान को नहीं जानता, किन्तु शरीर को और पुण्य के फल को ही भगवान मानता है। क्योंकि जिसे जिस की रुचि, उसे उसी की महिमा होती है। धर्मी को देह से और राग से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा का भान है, उसे भगवान की स्तुति का शुभराग हो और शरीर के गुण की बात व्यवहार से आये, परन्तु वहाँ धर्मी का लक्ष तो ज्ञानस्वरूप आत्मा पर है। भगवान के आत्मा के गुणों के साथ वह अपने आत्मा के गुणों की तुलना करता है, और जितना गुणों का अंश प्रगट हुआ, उतनी भगवान की स्तुति हुई—ऐसा वह जानता है; वही भगवान के सच्चे गीत गाता है। भगवान का भक्त, अल्पज्ञता या राग का आदर नहीं करता, परन्तु रागरहित सर्वज्ञस्वभाव का ही आदर करता है। और वहाँ जो शुभराग रहा, उसे ''भगवान की व्यवहारस्तुति'' का आरोप आता है। मेरा आत्मा केवली प्रभु जैसा है, उससे धर्म होता है और जन्म-मरण का नाश होता है; इसप्रकार जिसने ज्ञानस्वभाव की प्रतीति की, वह जीव भगवान का भक्त हुआ, वह जिनेन्द्र का नंदन हुआ... उसका इन्द्रियाधीनपना दूर हुआ; इसलिये वह जितेन्द्रिय हुआ... धर्मात्मा हुआ।—इसप्रकार ज्ञानस्वभावी आत्मा का सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन करना ही भगवान की वास्तविक स्तुति है और वहीं व्यवहारस्तुति होती है। *[—सोनगढ़ प्रतिष्ठा-महोत्सव के प्रवचन से]*

देखो... रे... देखो!

चैतन्यनिधान को देखो!

सुपात्र जीवों को सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे जीव! तुझे चैतन्य के ऐसे निधान बतलाऊ कि अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता न रहे... अपने चैतन्य की महिमा देखते ही तुझे पर की महिमा छूट जायेगी। अनंत धर्मस्वभावी तेरा आत्मा ही चैतन्यमूर्ति भगवान है; तुझे किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है। तू स्वयं ही दुनिया के निधान को देखनेवाला है। सदैव अल्पज्ञ-सेवक ही बना रहे—ऐसा तेरे आत्मा का स्वभाव नहीं है; तेरा आत्मा तो सर्वज्ञ की बराबरी का है; जितना सर्वज्ञ ने किया, उतना करने की शक्ति तुझ में भी विद्यमान है।

अहो! आचार्यदेव चैतन्य के ऐसे निधान बतलाते हैं कि अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता

ही न रहे। जो जीव ऐसी शक्तिवाले निजात्मा की प्रतीति करे, उसे निमित्त या विकल्प के आश्रय की श्रद्धा उड़ जाती है; पर्यायबुद्धि छूट जाती है और अनंत चैतन्यशक्ति का पिण्ड उसकी प्रतीति में आ जाता है... वह सम्यग्दृष्टि होकर मोक्षमार्ग में विचरने लगता है... अंतर्दृष्टि से वह स्वयं ही अपने को तीनलोक के नाथ परमेश्वररूप से देखता है।

श्री आचार्य भगवान कहते हैं कि भाई! तू अपने ज्ञानचक्षुओं को खोल! अपने नेत्रों को खोलकर चैतन्यनिधान को देख! सर्वज्ञभगवान मन-वाणी-देह से पार ऐसी गहरी गुफा में ले जाकर चैतन्य के अपूर्व निधान बतलाते हैं; उनका विश्वास करके हे जीव! अपने ज्ञानचक्षु में रुचि का अंजन आंज तो तुझे अपने चैतन्यनिधान दिखाई दें!

अज्ञान से अंध हुआ जीव अपने निकट ही पड़े हुए निजनिधान को नहीं देखता; श्रीगुरु उसे सम्यक्-श्रद्धारूपी अंजन आंजकर उसके निधान बतलाते हैं कि देख! तेरे निधान तेरे अंतर में ही भरे हैं; बाह्यदृष्टि छोड़कर अंतर में दृष्टि कर तो सिद्ध भगवान जैसे निधान तुझ में भरे हैं वे तुझे दिखलाई देंगे। एक चैतन्य की प्रतीति करने से अनंत सिद्ध भगवन्त, केवली और संतों की सम्पूर्ण ऋद्धि तुझे अपने में ही दिखाई देगी; वह ऋद्धि तुझे कहीं अन्यत्र नहीं ढूंढ़ना पड़ेगी। संत-महंत जिस ऋद्धि को प्राप्त हुए, वह अपने चैतन्य में से ही प्राप्त की है; कहीं बाह्य में से वह ऋद्धि प्राप्त नहीं की है। तेरे चैतन्य में भी वह सर्व ऋद्धि भरी है; यदि आँख खोलकर अंतर में देख तो वह दिखाई दे। किन्तु पर में से अपनी ऋद्धि लेने जायेगा तो अंध होकर घोर संसाररूपी वन में भटकेगा। यहाँ आचार्य भगवान करुणा करके भवभ्रमण से छूटने का मार्ग बतलाते हैं कि अंतर्मुख होकर निजशक्ति को संभाल तो भवभ्रमण से मुक्ति हो!

भवभ्रमण से थके हुए जीवों से श्रीगुरु कहते हैं कि—

देखो... रे... देखो! अंतर में चैतन्यनिधान को देखो! *[—प्रवचन से]*

इस देह से भिन्न मेरा आत्मा क्या वस्तु है?—ऐसा विचार करके सत्समागम से उसकी पहिचान करना, वह भवभ्रमण छूटने से का उपाय है।

—पूज्य गुरुदेव

शांतिनाथ प्रभु का दिया हुआ

शांति का उपदेश

[दिव्य दुंदुभि-नाद के बीच भगवान की दिव्यध्वनि की घोषणा]

श्री शांतिनाथ प्रभु का वैराग्य और दीक्षा सम्बन्धी प्रवचन पहले आ चुका है;
यह प्रवचन केवलज्ञान-कल्याणक प्रसंग का है।
(वीर सं. २४७५ ज्येष्ठ शुक्ला ४)

आत्मस्वभाव की यह बात जिसे जम जाये, उसे धन्य है! उसे अंतर में ऐसा लगता है कि अहो! भगवान ने मेरे स्वभाव की बात कही है; भगवान तो कहते हैं कि तुझमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है।—इस प्रकार महिमा लाकर जो अपने स्वभाव-सन्मुख हो, उसी को अंतर में यह बात जमती है। और जिसे यह बात जम जाये, उसका अपूर्व कल्याण हो जाता है... जो जीव, भगवान का उपदेश सुनने आया है और भगवान की कही हुई आत्मस्वभाव की बात जिसके आत्मा में जम गई, वह जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करे, ऐसा भव्य ही होता है... दिव्यध्वनि में तीर्थंकर भगवान की पुकार है कि मैंने जैसा स्वभावाश्रित पुरुषार्थ किया है, वैसा ही तुम करो, तो तुम्हारे भी परमात्मदशारूपी कार्य हुए बिना नहीं रहेगा।

तीर्थंकर भगवान की देशना और उसे झेलनेवाला

श्री शांतिनाथ भगवान पहले चक्रवर्ती थे, फिर वैराग्य प्राप्त करके स्वयं दीक्षित हुए और आत्मध्यान में लीन होकर केवलज्ञान प्रगट किया। भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्रों ने केवलज्ञान-कल्याणक महोत्सव मनाया; समवशरण की रचना की और उपदेश के लिये भगवान की स्तुति की। भगवान तो वीतराग हैं, उनकी वाणी सहज ही खिरती है, परन्तु इन्द्र स्तुति करें—ऐसी विनय की शैली है। समवशरण में शांतिनाथ भगवान की दिव्यध्वनि खिरी। भगवान को स्वयं तो पूर्ण शांति थी और दिव्यध्वनि द्वारा दूसरों को भी शांति का उपदेश देते थे।

तीर्थंकर भगवान को केवलज्ञान होने पर उपदेश न हो-ऐसा हो ही नहीं सकता। भगवान

को एकाक्षरी ध्वनि होती है। भगवान का ज्ञान भी अभेद हो गया और वाणी भी अभेद हो गई। रागी और अल्पज्ञ जीव की वाणी भेदवाली होती है; वीतरागता और केवलज्ञान होने पर वाणी में भेद-क्रम नहीं होता। केवली भगवान की दिव्यध्वनि में एक साथ पूरा रहस्य आता है और उसे श्रवण करनेवाले जीव अपनी-अपनी योग्यतानुसार समझ जाते हैं। श्री गणधरदेव, भगवान की वाणी को उत्कृष्ट रूप से झेलने के लिये पात्र हैं; वे भगवान की ध्वनि खिरते समय नियम से उपस्थित ही होते हैं। भगवान की वाणी खिरे और उत्कृष्ट झेलनेवाले गणधर उपस्थित न हों—ऐसा नहीं होता,—उपादान-निमित्त की संधि कभी टूटती ही नहीं। तीर्थंकर भगवान की वाणी प्रथमबार छूटे, उसे झेलकर अन्तर्मुहूर्त में गणधर देव बारह अंग की रचना करते हैं,—ऐसा उच्च उनका क्षयोपशम है; भगवान की वाणी में से तो वे बहुत झेलते हैं; परन्तु उसका अमुक भाग ही बारह अंग की रचना में आता है; भगवान की सभा में वे सर्वोत्कृष्ट श्रोता हैं।

भगवान के कहे हुए नवतत्त्व

भगवान ने केवलज्ञान में सारा विश्व प्रत्यक्ष देखा है; उसमें छह प्रकार के द्रव्य देखे हैं,—एक जीव और पाँच प्रकार के अजीव। जीव और अजीव तत्त्व त्रिकाली हैं और उनके परस्पर संबंध से दूसरे सात तत्त्व होते हैं, वे क्षणिक हैं। इसप्रकार कुल नवतत्त्व हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष।

जो जीव, धर्म सुनने के लिये आया है, वह अपना हित करना चाहता है। हित किसका करना है ?—अपने आत्मा का। जगत में जो वस्तु सत् हो, उसका हित होता है, अर्थात् जिसका हित करना है—ऐसा अपना आत्मा है;—इस प्रकार अपने आत्मा का अस्तित्व निश्चित करना चाहिए। तथा, जिन्होंने अपना हित कर लिया है ऐसे, और जिन्होंने अपना हित नहीं किया ऐसे, अपने अतिरिक्त अनंत आत्मा इस जगत में हैं—ऐसा जानना चाहिए। जिन्होंने अपना पूर्ण हित साध लिया है, वे देव हैं; जो अपने हित की साधना कर रहे हैं, ऐसे साधक संत वे गुरु हैं, और उन देव-गुरु की आत्महित बतलानेवाली वाणी, वह आगम है।

जीव अपना हित करना चाहता है, उसका अर्थ यह भी हुआ कि अभी तक उसने अपना अहित किया है। वह अहित अपने स्वभाव के लक्ष से नहीं होता परन्तु स्वभाव से विरुद्ध अन्य वस्तु के लक्ष से अहित हुआ है; इसलिये जीव के अतिरिक्त दूसरी अजीव वस्तुएँ भी जगत में हैं। जिस वस्तु में जानने की शक्ति है, वह जीव है और जिस में जानने की शक्ति नहीं है, वह अजीव है।

जीव की पर्याय में मिथ्यात्व, रागद्वेषादि विकार होता है, उसमें अजीव कर्म निमित्त है। जीव की पर्याय में मलिनता के चार प्रकार होते हैं—पुण्य, पाप, आस्रव और बंध; तथा उनके निमित्त रूप जड़-कर्म में भी यह चार प्रकार हैं।

तथा अपने स्वभाव का भान करके उस ओर परिणमन करने से जीव की पर्याय में शुद्धता होती है; उस शुद्धता के तीन प्रकार हैं—संवर, निर्जरा और मोक्ष। उसमें कर्म का अभाव निमित्त रूप है।

—इस प्रकार जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—कुल नव तत्त्व भगवान ने कहे हैं; उन में एक भी तत्त्व कम नहीं हो सकता और उन नव के अतिरिक्त दूसरा कोई दसवाँ तत्त्व जगत में नहीं होता। यदि इन नव तत्त्वों को न मानें तो कुछ भी वस्तुस्थिति ही सिद्ध नहीं होती, और अहित दूर होकर हित का उपाय भी नहीं हो सकता। 'अहित दूर करके हित करना है'—ऐसा कहते ही नवों तत्त्व खड़े हो जाते हैं।

'हे भाई! तू जीव है'—ऐसा कहते ही 'तेरे अतिरिक्त अन्य अजीव पदार्थ हैं, वह तू नहीं है'—ऐसा उसमें आ ही जाता है; इसलिये 'जीव है'—ऐसा कहते ही अनेकान्त के बल से 'अजीव' भी सिद्ध हो जाता है। अनेकान्त, भगवान के जीवन का अमोघ मंत्र है। उस अनेकान्त द्वारा वस्तुस्वभाव को पहिचानने से स्व-पर का भेदज्ञान होकर अपूर्व शांति प्रगट होती है। कई लोग अनेकान्त का यथार्थ स्वरूप पहिचाने बिना अनेकांत के नाम से गड़बड़ी करते हैं। अनेकान्त तो प्रत्येक तत्त्व की स्वतंत्रता और पर से पृथक्ता बतलाकर स्वभाव की ओर ले जाता है।—इस प्रकार भगवान द्वारा उपदेशित अनेकान्त, वह परम शांति का उपाय है।

जीव और अजीव-यह दो मूल द्रव्य अनादि-अनंत निज-निज स्वरूप से पृथक्-पृथक् हैं; वे सर्वथा नित्य नहीं हैं परन्तु नित्य-अनित्यस्वरूप हैं; वस्तुरूप से स्थायी रहकर अपनी अवस्था बदलते हैं, इसलिये प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप है।

—उस में जब जीव, पर के आश्रय से परिणमित होता है, तब उसकी पर्याय में पुण्य-पाप-आस्रव और बंध की उत्पत्ति होती है, और जब अपने भूतार्थ स्वभाव का आश्रय करके परिणमित होता है, उस समय संवर-निर्जरा और मोक्ष की उत्पत्ति होती है।

—इस प्रकार जगत में जीवादि नवतत्त्व हैं; भगवान ने पूर्ण ज्ञान में नव तत्त्व देखे, दिव्यध्वनि द्वारा वे नव तत्त्व कहे गये, और श्रोताजन उन नव तत्त्वों का स्वरूप समझकर अपने

स्वभाव की ओर उन्मुख हुए। स्वभाव की ओर उन्मुख होने से उनकी पर्याय में से पुण्य-पाप-आस्रव और बंधरूप विकारी तत्त्वों का अभाव होने लगा और संवर-निर्जरा तथा मोक्षरूप निर्मल तत्त्वों की उत्पत्ति होने लगी।—इसका नाम धर्म है, यही हित का और शांति का उपाय है।

आत्मा नित्य ज्ञान-आनंदस्वभाव से परिपूर्ण है, परन्तु अज्ञानी को उसका भान नहीं है; इसलिये अवस्था में मलिनता है; और उस मलिनता में परवस्तु निमित्त है। अपनी अवस्था में होनेवाली मलिनता को तथा निमित्तरूप परवस्तु को यदि न जाने तो सच्चा ज्ञान नहीं होता। इस जगत में अकेला अद्वैत आत्मा ही है और दूसरा कुछ है ही नहीं;—ऐसा जो माने, उसे स्व-पर का भेदज्ञान करके अंतरस्वभाव में उन्मुख होना नहीं रहता। यदि आत्मा के स्वभाव को और पर को तथा विकार को भी जाने तो स्व-पर का भेदज्ञान करके, क्षणिक विकार का आश्रय छोड़कर अभेद स्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होकर मुक्ति हो जाती है। 'आत्मा का हित करना है'—इस में यह सारी बात आ जाती है। यह सब स्वीकार किए बिना आत्मा का हित करने की बात नहीं रहती और सच्ची शांति नहीं होती। स्व-पर के भेदज्ञान बिना शांति होती ही नहीं, क्योंकि शांति तो आत्मा के अंतरस्वभाव के आश्रय से है, बाह्य संयोगों के आश्रय से शांति नहीं होती।

जगत में जो छह द्रव्य अथवा नव तत्त्व स्वयंसिद्ध हैं, वे ही भगवान ने कहे हैं, परन्तु भगवान ने कहीं कोई नये तत्त्व नहीं बनाए हैं, और भगवान ने कहे, इसलिये वे तत्त्व हैं—ऐसा भी नहीं हैं, और वे तत्त्व हैं, इसलिये उनके कारण भगवान को ज्ञान हुआ-ऐसा भी नहीं है। जगत के तत्त्व स्वतंत्र हैं और भगवान का ज्ञान भी स्वतंत्र है। मात्र ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध ऐसा है कि जैसा ज्ञेय पदार्थों का स्वभाव हो, वैसा ही ज्ञान में ज्ञात होता है। भगवान ने केवलज्ञान से जीव-अजीव प्रत्येक तत्त्व को स्वतंत्र देखा है, किसी के कारण कोई नहीं है, इसलिये एक तत्त्व दूसरे तत्त्व का कुछ नहीं करता। भगवान आत्मा चिदानन्द शुद्धस्वभावी है, वह पर का कुछ नहीं करता। अपना कल्याण अपने स्वभाव में से ही प्रगट होता है।

यदि 'जीव' न हो तो कल्याण किसका किया जाए?

यदि 'अजीव' पर लक्ष न हो तो जीव की पर्याय में भूल कैसे हो?

यदि जीव की पर्याय में पराश्रय से होनेवाला 'विकार' न हो तो कल्याण करना क्यों रहे?

यदि स्वाश्रय से वह विकारदशा दूर होकर 'अविकारी दशा' न होती हो तो कल्याण कहाँ से हो?

इसलिये—जीव है, अजीव है, अजीव के आश्रय से जीव की पर्याय में विकार है और अपने स्वभाव के आश्रय से वह विकार दूर होकर निर्मल दशा होती है। इसप्रकार जीव, अजीव, विकार और स्वभाव—इन चारों पक्षों को बराबर जानकर स्वभाव का आश्रय करे तो अधर्म दूर होकर धर्म होता है।—इसमें नवों तत्त्वों का समावेश हो जाता है।

दिव्य दुंदुभि-नाद के बीच भगवान ने की हुई स्वतंत्रता की घोषणा

भगवान को केवलज्ञान होने पर उनकी दिव्यध्वनि में छहों द्रव्यों की स्वतंत्रता का उपदेश आया; उसमें कहा कि प्रत्येक आत्मा अपनी चैतन्यशक्ति से प्रभु है। आत्मा और जड़—दोनों में अपनी प्रभुता है। जड़ पदार्थों में भले ही चेतनशक्ति नहीं है, परन्तु वे जड़ वस्तुएँ अपनी-अपनी स्वतंत्र शक्ति से सम्पन्न हैं; शरीरादि जड़ का पलटना स्वतंत्ररूप से अपनी-अपनी शक्ति से होता है; आत्मा अपनी इच्छानुसार उन्हें परिणमित नहीं कर सकता। पर का कुछ भी करने की शक्ति आत्मा में नहीं है, परन्तु अपनी अपार ज्ञान और सुख-शक्ति उसमें भरी है। आत्मा स्वाश्रय से, किसी भी पर के आश्रय बिना अपना कल्याण कर ले, ऐसी शक्तिवाला है; अपनी शांति के लिये उसे कहीं बाहर जाना पड़े—ऐसा वह नहीं है। और अपनी परमात्मशक्ति को भूलकर पराधीन भी वह अपने आप हुआ है; किसी दूसरे ने उसे पराधीन नहीं किया है। दुंदुभि के दिव्यनाद के बीच ऐसी स्वतंत्रता का ढंढेरा भगवान के उपदेश में आया है।

भगवान के समवशरण में दुंदुभिनाद होता है, वह जगत ऐस ऐसा कहता है कि अरे जीवो! यदि तुम्हें अपने आत्मा का हित करना हो और शांति की इच्छा हो तो भगवान की इस वाणी को सुनो; भगवान मोक्षमार्ग के नेता हैं; यदि तुम्हें मोक्षमार्ग प्रगट करना हो तो प्रभु के उपदेश को सुनो! आकाश में घहरती हुई देव-दुंदुभि जगत के जीवों को आमंत्रित कर रही है कि—भो...भो... भव्य जीवो! आत्मा का कल्याण करने के लिये अपने सब प्रमाद छोड़कर यहाँ आओ और मोक्ष के सार्थवाह—ऐसे इन भगवान का सेवन करो... भगवान का उपदेश सुनो!

—और भगवान की दिव्यध्वनि ऐसी पुकार करती है कि—हे जीवों! यदि तुम्हें अपना हित करना हो तो वस्तु की स्वतंत्रता को जानकर आत्मस्वभाव का आश्रय करो! यदि तुम्हें शांति चाहिए हो, धर्म करना हो तो प्रथम अपने आत्मा को पहिचानो... श्री शांतिनाथ भगवान ऐसा शांति का उपदेश देते थे। अहो! जहाँ साक्षात् तीर्थंकर भगवान विचरते हों और समवशरण हो, वहाँ तो धर्म का उत्कृष्ट प्रवाह चलता है।

इससमय महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमंधर परमात्मा तीर्थंकररूप से विराजमान हैं और वहाँ धर्म-प्रवाह धोखबन्द चल रहा है। यहाँ से भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव, श्री सीमंधर भगवान के पास गये थे और वहाँ आठ दिन रहकर भगवान की साक्षात् दिव्यध्वनि सुनी थी। लगभग विक्रम संवत् ४९ में यह घटना हुई थी। वह दिव्यध्वनि झेलकर भरतक्षेत्र में वापिस आकर उन्होंने श्री समयसारादि की रचना की थी। उसमें वे कहते हैं कि भगवान दिव्यध्वनि में ऐसा कहते थे कि हम भी सिद्ध हैं और तुम भी सिद्ध हो; हम परमात्मा हैं और तुम भी परमात्मा हो; प्रत्येक आत्मा अपने स्वभाव से पूर्ण परमेश्वर है। तुम अपनी प्रभुता को पहिचानो! जितने जीव प्रभु हुए हैं, वे सब अपनी प्रभुता को पहिचानकर उसके आधार से ही प्रभु हुए हैं। प्रभुता कहीं बाहर से नहीं आती किन्तु स्वभाव में शक्ति है, उसी में से वह प्रगट होती है; इसलिये अपनी स्वभावशक्ति को पहिचानकर उसका अवलम्बन करो।

सिद्धसमान सदा पद मेरा

आचार्यदेव ने समयसार के मांगलिक में ही "वंदित्तु सव्व सिद्धे"—ऐसा कहकर आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है; सिद्धत्व का प्रस्थान किया है। मैं सिद्ध भगवन्तों को वंदन करता हूँ, यानी आत्मा की सिद्धरूप से स्थापना करता हूँ। अहो जीवो! मैं सिद्ध हूँ और तुम भी सिद्ध हो! तुम अपने सिद्धत्व का स्वीकार करो! मेरा और तुम्हारा आत्मा सिद्ध समान है। इस पंचमकाल में साक्षात् सिद्धदशा नहीं हैं, परन्तु स्वभाव से तो मैं भी सिद्ध हूँ और तुम भी सिद्ध हो! इसलिये आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके सिद्धदशा का प्रस्थान रखते हैं। यह बात सुनते ही जिसने उल्लसित होकर आदर किया, उसने अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना की है, अब वह अल्पकाल में सिद्ध हुए बिना नहीं रहेगा।

पं. बनारसीदासजी नाटक-समयसार में कहते हैं कि:—

चेतनरूप अनूप अमूरति
सिद्धसमान सदा पद मेरो।
मोह महातम आतम अंग
कियो परसंग महातम घेरो॥
ज्ञानकला उपजी अब मोहि
कहूं गुण नाटक आगम करो।

जासु प्रसाद सधै शिवमारग
वेगि मिटै भववास बसेरो ॥

—अपना परमार्थ स्वभाव कैसा है, वह बतलाकर फिर पर्याय की बात की है। मेरा स्वभाव तो सदैव चैतन्यरूप, उपमारहित, अमूर्तिक सिद्ध समान है। परन्तु पर्याय में महा मोहान्धकार का सम्बन्ध होने से अज्ञानी बन रहा था; परन्तु अब तो मेरे आत्मा में ज्ञानज्योति प्रगट हुई है, इसलिये मैं इस समयसार के गुण कहता हूँ—जिसके प्रसाद से मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है और शीघ्र ही भववास का अन्त आ जाता है अर्थात् जन्म-मरण छूट जाते हैं। जिसकी चिदानन्दी भगवान आत्मा को उपमा दी जा सके, ऐसा कोई पदार्थ इस जगत में नहीं है, 'उसकी उपमा उस को' सिद्ध समान अपना पद है। ऐसे आत्मा की पहिचान और श्रद्धा के बिना जन्म-मरण दूर नहीं होते।

सिद्ध होने का उपाय

भगवान आचार्यदेव कहते हैं कि मैं सिद्ध हूँ और तू भी सिद्ध है। एकबार हम कहते हैं ऐसे अपने आत्मा का विश्वास करके हाँ कहना। आत्मा का स्वभाव सदैव सिद्ध जैसा होने पर भी उसके अविश्वास के कारण वह शक्ति रुक गई है। विश्वास के फेर से ही यह संसार बना है। कोई कहे कि 'आत्मा सिद्ध समान हो तो उसे यह क्या हो गया है ?'—तो कहते हैं कि स्वभावसामर्थ्य से तो आत्मा सदैव विद्यमान है ही, परन्तु पर्याय में उस स्वभाव की असावधानी के कारण स्वयं ही अज्ञानी हुआ है। वह क्षणिक अज्ञानभाव आत्मा के त्रिकाली स्वरूप में नहीं है... अब इस शुद्धात्मस्वभाव की महिमा श्रवण करते-करते विकल्प पर जोर मत देना, किन्तु 'मैं सिद्ध हूँ'—ऐसा लक्ष रखकर स्वभाव की और जोर देना। पूर्ण स्वभाव के लक्ष से श्रवण-मनन करने से पर्याय में से दोष और अपूर्णता दूर हो जायेंगे। भगवान की दिव्यध्वनि में ऐसा आया था कि हे भव्य जीवो ! तुम्हारा आत्मा, पर से भिन्न ज्ञायकस्वरूप है; परसंग छोड़कर स्वभाव का परिचय करो, ऐसा करने से जैसा शक्तिरूप से परमात्मपना है, वैसा पर्याय में व्यक्त हो जायेगा।—ऐसा मुक्ति का उपााय भगवान ने कहा है। इसके अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से परिभ्रमण के दुःख का अन्त नहीं आ सकता।

जिसे यह बात जम जाये उसे धन्य है...!

जिसे आत्मा के स्वभाव की यह बात जम जाये, उसे धन्य है ! जिसकी रुचि में यह बात जम गई, उसकी अल्पकाल में मुक्ति हो जाती है। आत्मा के स्वभाव की यह बात किसे जमती

है ?—जिसे पात्रता प्रगट होकर अन्तर में ऐसा हो कि—अहा ! भगवान ने मेरे स्वभाव की बात कही है... भगवान ने तो मेरे आत्मा की अनंत महिमा समझाई है.. भगवान तो कहते हैं कि मुझमें और तुममें कोई अन्तर नहीं है। अहो! ऐसा मेरा स्वभाव!—ऐसी महिमा लाकर जो अपने स्वभावसन्मुख हो, उसी को अंतर में यह बात जमती है; और जिसे यह बात जम जाये, उसका अपूर्व कल्याण हो जाता है। जिसके पर्यायबुद्धि हो, उसके अन्तर में यह बात नहीं जमती, और यह बात जमे बिना कल्याण नहीं होता। क्षणिक पर्याय में विकार है, उतना ही अपने को अनादिकाल से मान रहा है, इसलिये परिभ्रमण करता है; वह पर्यायबुद्धि छुड़ाकर यहाँ द्रव्यबुद्धि कराना चाहते हैं। पर्याय में जो एकसमय का संसार है, वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। एकसमय के विकार में आत्मा का चैतन्यपद नहीं है; यदि उस विकार में आत्मा को ढूँढ़े तो आत्मा अनुभव में नहीं आएगा, किन्तु विकार की उत्पत्ति होगी। यदि स्वसन्मुख होकर अंतर में त्रिकाली चैतन्यपद को ढूँढ़े तो उसके आश्रय से स्थायी परमात्मदशा हुए बिना न रहे।

मोहक्षय के लिये समस्त तीर्थंकरों का एक ही मार्ग

श्री आचार्य भगवान मोहक्षय का उपाय बतलाते हुए प्रवचनसार में कहते हैं कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥८०॥

जिसने अरिहंत भगवान के आत्मा को द्रव्य-गुण-पर्याय से जान लिया, और उसी जाति का मैं हूँ—ऐसा निर्णय किया, वह जीव अपने आत्मा को जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है। इसप्रकार मोह का नाश करके, पश्चात् शुद्धात्मा के आश्रय से ही राग-द्वेष का नाश करने से जीव शुद्धात्मा को प्राप्त होता है अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करता है।—ऐसा मुक्ति का उपाय है। और यह एक ही उपाय है—ऐसा दृढ़ करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि:—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविद कम्मंसा।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं॥८२॥

उपरोक्त कथनानुसार ही मोहक्षय का उपाय करके समस्त अरिहंत भगवन्तों ने मोह का नाश किया और परमात्मदशा को प्राप्त हुए। पश्चात् उन अरिहंत भगवन्तों ने वैसा ही उपदेश जगत को दिया। उसमें उन्होंने कहा कि हम इस प्रकार मोह का नाश करके ही परमात्मदशा को प्राप्त हुए हैं। जैसा हमने किया है, वैसा ही यदि तू करे तो तू भी परमात्मा होने योग्य है। तू अपने अरिहंत-

समान आत्मा को जानकर उसका आश्रय करे तो तेरा मोह नष्ट होकर परमात्मदशा हो। यहाँ तो 'परमात्मदशा हो ही जाए' ऐसी बात है, 'न हो'—ऐसी बात यहाँ नहीं है। अभव्य जीव भले ही जगत में हों, परन्तु भगवान के समवशरण में अभव्य जीव नहीं होते। जो जीव भगवान का उपदेश सुनने के लिये आया और भगवान की कही हुई आत्मा की बात जिसके आत्मा में जम गई, वह जीव अल्पकाल में मुक्ति प्राप्त करे—ऐसा भव्य ही होता है। इस समय यहाँ भी भगवान के केवलज्ञान प्रसंग पर भगवान की दिव्यध्वनिरूप से यह उपदेश चल रहा है।

दिव्यध्वनि में पुरुषार्थ की पुकार

दिव्यध्वनि में तीर्थंकरदेव की पुकार है कि—जैसा स्वभावाश्रित पुरुषार्थ मैंने किया है, वैसा ही पुरुषार्थ यदि तुम करो तो तुम्हारे भी परमात्मदशारूपी कार्य हुए बिना नहीं रहेगा। जितना आत्मस्वभाव का पुरुषार्थ करे, उतना ही स्वभाव का कार्य प्रगट न हो—ऐसा नहीं हो सकता। पुरुषार्थ अधिक करे और कार्य कम हो—ऐसा कभी नहीं हो सकता; और अपने पुरुषार्थ के बिना किसी अन्य के आधार से परमात्मदशा प्रगट हो जाए—ऐसा भी नहीं हो सकता। एक ही नियम है कि जितना स्वाभावाश्रित पुरुषार्थ करे, उतनी पवित्र दशा उस क्षण प्रगट हो जाती है। सांसारिक बाह्य संयोगों की बात अलग है; वहाँ तो बहुत राग करने पर बाह्य संयोग नहीं भी मिलते परन्तु आत्मा में तो स्वभाव के पुरुषार्थ से अवश्य मुक्ति होती है। पुरुषार्थ के बिना मुक्ति नहीं होती।

कोई कहे कि:—काललब्धि होगी, तब मुक्ति हो जायेगी, उसमें पुरुषार्थ व्यर्थ है;—तो वैसा कहनेवाला मिथ्यादृष्टि है। पुरुषार्थ के बिना काललब्धि का निर्णय किसने किया? जहाँ पुरुषार्थ है, वहाँ काललब्धि होती ही है। "निज परिणाम की प्राप्ति ही काललब्धि है।" आत्मा का पुरुषार्थ सूझे और काललब्धि की शंका रहे—ऐसा कदापि नहीं हो सकता। इसप्रकार भगवान ने पुरुषार्थ का उपदेश दिया है। ●●

अहो! सम्यग्दर्शन तो जगत में अपूर्व अचिंत्य महिमावंत वस्तु है; सम्यग्दर्शन होते ही सारा परिणमन बदल जाता है। जिसे सम्यग्दर्शन हुआ, उसके चैतन्य-आँगन में मुक्ति का मंडप लग गया,... उसके आत्मा में सिद्ध भगवान का सन्देश आ गया... उसकी अनंत भव में परिभ्रमण करने की शंका दूर हो गई... और अल्पकाल में मुक्ति होने का नि:सन्देह विश्वास प्रगट हुआ।—ऐसा अपूर्व... परम... अचिंत्य सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये अंतर के चिदानन्द परमात्मतत्त्व के अतिरिक्त अन्य किसी का अवलम्बन है ही नहीं। जो इस उपाय से सम्यग्दर्शन प्रगट करे, उसके अल्पकाल में भव का अभाव हो जाता है।

—ऐसे सम्यग्दर्शनधारी संतों की जगत में बलिहारी है!

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभविद्यानगर।
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट के लिये-जमनादास माणेकचंद रवाणी।